ISSN: 2278-4632
Vol-10 Issue-7 No. 15 July 2020

आदिवासी समाज और परिवर्तन का दबाव : अर्थात् 'हमारी अर्थी शाही हो नहीं सकती'

परिवर्तन कोई तथाकथित सत्य नहीं है और विकास कोई निरपेक्ष स्थिति नहीं है । दौर का बदलना प्राकृतिक अनिवार्यता है परन्तु बदलाव की प्रकृति मनुष्य की आवश्यकताओं, हस्तक्षेपों, उद्देश्यों और अभिप्रायों से निर्धारित होती है । आदिवासी समाज के उद्देश्य, अभिप्राय और आवश्यकता भारतीय समाज के केन्द्रीय अभिप्राय से ना मात्र अलग हैं, बल्कि कई प्रसंगों में भिन्न भी हैं । समझने वाली बात यह है कि आदिवासी समाज की स्वाभाविक विकास-गति मुख्यधारा की विकास-संरचना से प्रभावित है या मुख्यधारा की विकास-संरचना द्वारा शासित है । प्रभावित होने की स्थिति में यह माना जाएगा कि आदिवासी समाज अपने दैनिक जीवन को सरल बनाने के लिए विज्ञान की नयी-नयी खोजों को अपने जीवन का हिस्सा बना रहा है और इसीलिए उनके जीवन मूल्य भी प्रभावित हो रहे हैं । मुख्यधारा की विकास-संरचना द्वारा शासित होने की स्थिति में और बहुधा शोषित होने की स्थिति में हम इस प्रक्रिया को सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के सन्दर्भ में समझेंगे ।

बदलते दौर का तात्पर्य : भारतीय आदिवासी समाज के संदर्भ में बदलाव की प्रक्रिया को आजादी के बाद लोकतांत्रिक समाज की निर्मिति की भूमिका में देखना समीचीन होगा । संविधान ने भारत के सभी नागरिकों को जाति, धर्म, सम्प्रदाय, लिंग, भाषागत एवं क्षेत्रगत संकीर्णताओं से उपर उठकर समान अवसर और अभिव्यक्ति का अधिकार मुहैया कराया, परन्तु संविधान का व्यवहृत स्वरुप उसके लिखित स्वरुप से भिन्न नजर आया । आजादी के बाद नेहरू की नीतियों में-से आधुनिकीकरण जैसी परियोजनाओं के क्रियान्वयन ने आदिवासियों के जीवन में नकारात्मक हलचल पैदा कर दिया । औद्योगीकरण के लिए जमीनें चाहिए थीं जिनकी पूर्ति आदिवासियों को उनकी जमीन से वंचित करके, छीनकर की गयी । उनकी पुनर्स्थापना के लिए जरूरी प्रयास सरकार जरूरी नहीं समझी ।

Copyright @ 2020 Authors

ISSN: 2278-4632
Vol-10 Issue-7 No. 15 July 2020

इस तरह से आदिवासी समाज में व्यापक स्तर पर विस्थापन आरम्भ होता है । विस्थापन मात्र भौतिक स्थानांतरण नहीं होता । विस्थापन एक कमायी हुई संस्कृति की सम्पूर्णता से दूसरी परायी संस्कृति की आंशिकता में प्रवेश करने की दुखमय विवशता है । यह विवशता व्यक्ति की सीमा बन जाती है । दूसरी संस्कृति का प्राथमिक नागरिक होने की प्रक्रिया कई पीढ़ियों तक चलती रहती है । कई बार प्राथमिक नागरिकता सम्भव भी नहीं हो पाती । विस्थापित आदिवासी भी मुख्यधारा में सांस्कृतिक अर्थ में प्राथमिक नागरिक नहीं हो सके । नेहरू की परियोजनाओं में बांध-निर्माण शामिल थे । नदियों की निर्बाध गति के साथ आदिवासी समाज लम्बे समय तक उस व्यवस्था को स्थापित किए हुए था जिससे प्रवाह-भंग नहीं हो सकता था और नदियों के प्राकृतिक-अधिकारों में कोई सेंधमारी नहीं हुई थी । शहरीकरण भी आजादी के बाद से गति में आया । नए शहरों के निर्माण और पुराने शहरों के सीमांतों के लगातार बढ़ाव ने अपनी सीमा का विस्तार आदिवासियों के आँगन तक कर दिया । बाजार ने आदिवासियों की उन चीजों का भी दाम लगाया जिनके बिना उनका जीवन दुरूह और अर्थशून्य हो जाता, हुआ भी वैसा ही । खान-उत्खनन ने आदिवासियों की न सिर्फ ज़मीन को निशाना बनाया बल्कि उनके वातावरण की शांति और हवा की शुद्धता पर भी हमला किया । ये सभी प्रक्रियाएँ आर्थिक उदारीकरण के बाद और भी तीव्र हुईं । "उड़ीसा के आदिवासी बहुल जिलों में ऐसा देखने को मिलता है जहाँ गैर आदिवासी नेतृत्ववाली सरकार ने कच्चा लोहा और बाक्साईट के खानों के उत्खनन के देशी-विदेशी कम्पनियों से करार पर हस्ताक्षर किया है ।"[1] यह विदेशी कम्पनियाँ आदिवासी संसाधनों के साथ जिस निर्ममता के साथ पेश आएँगी उसे सहज ही कल्पित किया जा सकता है ।

पिछली सदी के अंतिम दशक में ही संचार-माध्यमों की बहुलता ने एक ऐसी संस्कृति को निर्मित किया जो आदिवासियों के लिए ऋणात्मक-धनात्मक दोनों तरह के बदलावों की संवाहक बनी । पूँजीवादी सक्रियातों ने आदिवासी जीवन के सामने नयी चुनौतियों को प्रस्तुत किया है । उनके जीवन-मूल्यों को

[1] तिवारी, विनोद(सं.), पक्षधर, संयुक्तांक:25-26 जुला.-दिसं., 2018-जन.-जून, 2019, अक्षर संयोजन, दिल्ली, पृष्ठ सं.-57

Copyright @ 2020 Authors

ISSN: 2278-4632
Vol-10 Issue-7 No. 15 July 2020

कमतर साबित करके अपनी शोषणकारी संस्कृति का विकल्प प्रस्तुत करना पूँजीवाद का वह चरित्र है जिसे उसने आदिवासियों के लिए हथियार के रूप में इस्तेमाल किया है । इस हथियार को निरस्त करना इसलिए भी मुश्किल बनता जा रहा है, क्योंकि पूँजीवाद वैकल्पिक जीवन का छद्म भी प्रस्तुत कर रहा है । इस प्रस्तुतीकरण में आदिवासी चेतना जहाँ तीक्ष्ण है वहाँ इसका विरोध किया जा रहा है । "पूर्वी सिंहभूमि के जादूगोड़ा स्थित युरेनियम कोर्पोरेशन ऑफ़ इण्डिया द्वारा युरेनियम के खनन और तैयारी के कारण जादूगोड़ा और आस-पास रहनेवाले मूलनिवासी संथाल, मुंडा, हो और अन्य आबादी तत्काल रेडियोधर्मिता के भयंकर शिकार हुए हैं ।"[2] इस प्रभाव को आदिवासी समझ रहे हैं और संगठित रूप से विरोध कर रहे हैं। इसी तरह के संघर्ष राजस्थान, गुजरात और दक्षिण के प्रदेशों में भी चल रहे हैं ।

आदिवासी समाज में धार्मिक उपनिवेश की इच्छा मुख्यतः इसाई और हिन्दू धर्म की लक्षित की जा सकती है । इसाई मिशनरी आदिवासी समाज में बहुत लम्बे समय से अपने हितों को लेकर मौजूद है और उन्हें एक सीमा तक सफलता भी मिली है । धर्म और संस्कृति उस तरह से भिन्न नहीं कि उन्हें अलग अनुशासन माना जाय । हिन्दू धर्म का आदिवासी समाज में प्रवेश सापेक्षतः विलम्ब से हुआ है । जबकि भारत की मुख्यधारा की संस्कृति से आदिवासी बहुत अपरिचित नहीं थे । आदिवासियों पर सांस्कृतिक आधिपत्य की इच्छा भी धार्मिक नेताओं में बनी रहती है । इस संदर्भ में इसाई मिशनरी को सफल नहीं कहा जा सकता । "आज हिन्दुत्ववादी जहाँ एक ओर यदि आदिवासी क्षेत्रों में अपने धर्म का प्रचार कर, आदिवासियों का हिन्दूकरण करने का प्रयास कर रहे हैं तो वहीं दूसरी ओर पिछले अनेक वर्षों से आदिवासियों के बीच शिक्षा व चिकित्सा के क्षेत्र में कार्य कर रही इसाई मिशनरियों के प्रति अशिक्षित आदिवासियों के मन में विष भरने का कार्य भी ये हिन्दुत्ववादी कर रहे हैं ।"[3] आदिवासी समाज में वर्चस्वशाली संस्कृति के दखल में विनम्रता का भाव नहीं

[2] सिंह, अभय प्रसाद(सं.), समकालीन भारत में विकास की प्रक्रिया और सामाजिक आन्दोलन, ओरियंट ब्लैकस्वान, तेलंगाना, 2015 ई. पृष्ठ सं.-260
[3] कठेरिया, कमल किशोर, भारतीय संस्कृति का पुनर्लेखन:अस्मिताओं का संघर्ष, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015 ई., पृष्ठ सं.-101

Copyright @ 2020 Authors

ISSN: 2278-4632
Vol-10 Issue-7 No. 15 July 2020

है । हिन्दू धर्म का प्रसार अधिनायकवादी मुद्रा में किया जा रहा है । जबकि उन्हें हिन्दू धर्म की पारंपरिक व्यवस्था में निचले दर्जे का ही स्थान दिया जाएगा परन्तु हिन्दू नेताओं के लिए आदिवासियों का हिंदूकरण हिन्दुओं की संख्या में बढ़ोत्तरी से अधिक कुछ नहीं है । इससे लोकतंत्र में हिन्दुओं का जनाधार बढ़ेगा । मुख्यधारा का समाज अपनी संस्कृति के प्रति श्रेष्ठताबोध से ग्रसित रहता है और इस पूर्वाग्रह से भी ग्रसित रहता है कि आदिवासी समाज भी हिन्दू संस्कृति को श्रेष्ठ माने ।

भूमंडलीकरण में एक अधिभाषा है । आदिवासी समाज उस अधिभाषा का प्रत्याख्यान रच पाने में अभी तक असमर्थ है । बदलते वैश्विक परिदृश्य में भूमंडलीकरण के मूल्य सामाजिक विशिष्टता के विरूद्ध हैं । आदिवासी समाज की मौलिकता ही उसका प्राण है परन्तु जिस एकरूप संस्कृति को भूमंडलीकरण संचालित करता है उसके लिए सांस्कृतिक विशिष्टता को नष्ट करना अनिवार्य हो जाता है । भूमंडलीकरण और आदिवासी के संदर्भ में विजय प्रताप लिखते हैं- "अभी तक प्राकृतिक संसाधनों पर अपना जीवन बसर करने वाले आदिवासी लोग भी इस मार से सबसे ज्यादा प्रभावित होने वालों में हैं । ...उनके बीच से निकली राजनीतिक पार्टियाँ भी वैश्विक सरकार के सरकारी तर्क की गुलाम हैं ।"[4] वैश्विक सरकारों का मूल उद्देश्य आर्थिक दोहन ही है लेकिन आर्थिक दोहन का रास्ता सीधे-सीधे नहीं जाता । आदिवासी समाज में ज्ञान-कौशल के बहुत-से मौलिक सत्य मौजूद हैं । कुछ शक्तियाँ उन विचारों की भी चोरी करती हैं और उन्हें वैश्विक बाजार में ऊँचें दामों पर बेंचती हैं ।

इस परिवर्तनशील कालखंड में आदिवासी समाज के सामने सबसे बड़ी चुनौती है कि वह अपनी अर्जित संस्कृति और मौलिक मूल्यों को कैसे बचाए । यह संभावना कम है कि मुख्यधारा की संस्कृति के संक्रमण से वह कुछ लाभान्वित हो । आदिवासी समाज न सिर्फ भौतिक रूप से प्रकृति के नजदीक है बल्कि वह मानवीय मूल्यों के स्तर पर भी प्रकृति के अधिक नजदीक है । आधुनिक नवाचार ऐसा मूल्य नहीं है जिसका अनुसरण करना ही प्रगति का प्रतीक माना जाय ।

[4] दुबे, अभय कुमार(सं.), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003ई., पृष्ठ सं.-372

Copyright @ 2020 Authors

ISSN: 2278-4632
Vol-10 Issue-7 No. 15 July 2020

प्रगति या विकास सापेक्षिक पद है। आदिवासी अपनी पारम्परिक जीवनचर्या को पर्याप्त समझते हैं। यदि उनमें कमी भी होगी तो विकास की शर्तें उनकी अपनी होंगी, न की उन शर्तों को आयात किया जाएगा।

"जख्मी हिरणें पूर्ण मृत्यु के लिए शिकारियों का इंतज़ार भर कर रहे हैं।"[5] - यह वाक्य 'ग्लोबल गाँव के देवता' के लगभग आख़िरी हिस्से में आता है। उपर से निराशावादी दिखने वाला यह वाक्य वस्तुतः यथार्थवादी है। आदिवासी समाज जिस दुष्चक्र में फँसा हुआ है वह उसके अस्तित्व को ही निगल जाने का इरादा रखता है। औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण, उदारीकरण, अमेरिकी साम्राज्यवाद, उपभोक्तावाद, बाजारवाद और पूँजीवाद की मार से लहूलुहान आदिवासी समाज इस विशाल भयानक व्यवस्था के सामने, इस मनुष्यद्रोही राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक संरचना के सामने एक जख्मी हिरण से अधिक कुछ भी नहीं जान पड़ता। लेकिन मनुष्य का अधिकारबोध पूरी तरह से नष्ट नहीं किया जा सकता। समय-समय पर आदिवासी समाज द्वारा किया गया विद्रोह और किये गए आन्दोलन इस सच्चाई के प्रमाण हैं।

लेख के शीर्षक में अनुज लुगुन की एक कविता का शीर्षक इसी निष्कर्षात्मक अर्थ के कारण प्रयुक्त किया गया है कि आदिवासी समाज तमाम दबावों के बावजूद बदलते परिदृश्य में भी अपना वैशिष्ट्य बचा रखा है। उस समाज के नायक की अर्थी शाही इसलिए नहीं हो सकती कि उनके नायक की देह में महुआ और मिट्टी की गंध बची हुई है। उसकी मौलिकता अब भी अपने आप में ही एक दावा है।

[5] रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण, सन 2010 ई., पेज 93

Copyright @ 2020 Authors

ISSN: 2278-4632
Vol-10 Issue-7 No. 15 July 2020

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची:

1. पक्षधर, विनोद तिवारी(सं.), संयुक्तांक:25-26 जुला.-दिसं., 2018-जन.-जून, 2019, अक्षर संयोजन, दिल्ली

2. समकालीन भारत में विकास की प्रक्रिया और सामाजिक आन्दोलन, सिंह, अभय प्रसाद(सं.), ओरियंट ब्लैकस्वान, तेलंगाना, 2015 ई.

3. भारतीय संस्कृति का पुनर्लेखन:अस्मिताओं का संघर्ष, कमल किशोर कठेरिया, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015 ई.

4. भारत का भूमंडलीकरण, अभय कुमार दुबे(सं.), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003ई.

5. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण, सन 2010 ई.

कल्पना पाठक

पी.एच.डी. शोध-छात्रा

हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

मो.- 7830210079

ईमेल- Jupitarapathak2015@gmail.com

Copyright @ 2020 Authors